शोध और शिक्षण – साहित्य के संदर्भ में

रवीन्द्र कुमार पाठक*

प्रस्तुत आलेख शिक्षण और शोध के परस्पर उपकारी संबंध पर प्रकाश डालते हुए, उसे साहित्य से संदर्भित करता है। सीखने-सिखाने और अनुसंधान करने की क्रियाओं में आंतरिक तल पर अन्विति होती है तथा गहरी शोध- दृष्टि से निकला अध्यापन ही बोधगम्य व पारदर्शी होता है। शोध व शिक्षण का मुख्य/प्रेरक आधार है मनुष्य मात्र में निहित आत्मविस्तार की जन्मजात प्रवृत्ति। कोई भी शोध ज्ञान-सृजन का अनुष्ठान होता है, इसलिए उसका मूलभूत अभिलक्षण है- उसकी नवीनता (अपूर्वता) या मौलिकता, जो प्रक्रिया से अधिक परिणति (निष्कर्ष) में झलकनी चाहिए। पर, शर्त यही है कि वह व्यापक लोकहित या सामाजिक प्रगति की दिशा में हो। इसी लिहाज़ से, यहाँ समय की परिवर्तनशीलता के सापेक्ष शिक्षण के पाठ्यक्रम, प्रविधि आदि में सतत् नवीनीकरण की आवश्यकता बतलायी गयी है। लेखक की राय में उत्कृष्ट शोधकर्ता किसी प्रसंग में यथासंभव उपलब्ध तथ्यों का तटस्थ विश्लेषण करने वाले न्यायधीश के रूप में होता है, न कि अपने मन्तव्य/रुचि के पक्ष में दलील भर देने वाले वकील के रूप में। फिर, समाज में भेदभाव के इतने स्तरों के रहते शिक्षण व शोध के क्षेत्र में उचित पात्रों की अब तक व्यापक लोकतांत्रिक भागीदारी न हो पाना भी बड़ी समस्या है। इस संदर्भ में, यह आलेख देश में शिक्षण व शोध की दयनीय दशा पर विचार करते हुए उसके नाना कारणों की तरफ़ संकेत भी करता है। साथ ही, इसमें यह भी प्रतिपादित किया गया है कि समाज का बड़ा वर्ग जब तक भूख, भय तथा नाना तरह के अभावों से ग्रस्त है, तब तक शोध व शिक्षण की बेहतर स्थितियाँ संभव नहीं।

शोध और साहित्य

'शोध' के लिए प्रचलित शब्द 'रिसर्च' (Research) है, यानी 'अनुसंधान'। 'अनु' उपसर्ग 'पश्चात्' (पीछे) के अर्थ में है। 'संधान' के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों में जोड़ना, मिलाना, मिश्रण, कसना, निदेशन आदि हैं। कोशों में 'अनुसंधान' शब्द के विविध अर्थ प्राप्त हैं[1] -पृच्छा, गवेषणा, गहन निरीक्षण या परीक्षण, जाँच, उद्देश्य, योजना, क्रमबद्ध करना, उपयुक्त संयोग आदि।

**व्याख्याता*, जी.एल.ए.कॉलेज, मेदिनीनगर/डाल्टनगंज, पलामू, झारखण्ड

इन संदर्भों में कहा जा सकता है कि ज्ञान प्रक्रिया द्वारा उपलब्ध स्रोतों के सम्यक् प्रयोग, संयोग, निरीक्षण-परीक्षण के बाद 'सत्य' को उद्घाटित करना ही 'अनुसंधान' है, 'रि-सर्च' है। सत्य पैदा नहीं किया जाता, वह तो स्वयंभू है और सदा विद्यमान रहता है। ज़रूरत है उसे उद्घाटित करने की-उस पर पड़े बाधक आवरणों या सुनहले जालों को[2] हटाने की, उनका अनावरण (Discover) करने की। इसके लिए ज्ञान स्रोतों की रचना की जाती है, जिनके ज़रिये 'सत्य' का आविष्कार संभव होता है। 'गुरुत्वाकर्षण' का सत्य ब्रह्माण्ड में अनादि काल से विद्यमान था, उसे किसी भास्कराचार्य[3] या न्यूटन ने पैदा नहीं किया था। हाँ, उनका (खासकर न्यूटन का) महान् योगदान यह है कि उन्होंने अपने सृजित ज्ञान स्रोत से उस सत्य पर से पर्दा हटाकर, उसे दुनिया के सामने लाए। यह प्रक्रिया ही (Research) या 'अनुसंधान' है। 'अनु' व 'रि' का भी मतलब है। Re=फिर से और Search=खोजना। सत्य पुनः-पुनः खोजने की चीज़ है, क्योंकि खोजा हुआ सत्य भी खो जाता है। 'अनु' का अर्थ है 'पीछे', जो संगत है-हम सत्य की उपलब्धि उसके पीछे चल कर (अनुसरण करके) ही कर पाते हैं।

स्पष्ट है कि 'सत्य' साध्य है, जिसका साधन है 'ज्ञान'। 'सत्य' का निर्माण नहीं होता, बल्कि ज्ञान निर्मित किया जाता है। शोध कार्य ज्ञान के सृजन का ही अनुष्ठान है। व्यापक अर्थ में हमारे सभी विद्यालय (चाहे प्राथमिक हों या उच्चस्तरीय) ज्ञान की ही सृजनशालाएँ हैं।

शोध कार्य का लक्ष्यीभूत है-सत्य की उपलब्धि। 'सत्य' एक होकर भी माध्यम के भेद से अलग-अलग छवियों या मात्राओं में प्रकट होता रहता है, जिस प्रकार प्रकाश एक होकर भी शीशे के रंग के अंतर से अलग रंग का दिखता है। इसी तरह, अलग-अलग ज्ञानानुशासन (Discipline) या विधा का सत्य अलग-अलग दिखता है, जबकि उनमें मूलभूत एकता होती है। विज्ञान का सत्य हो, इतिहास का सत्य हो या कला व साहित्य का सत्य-सब एक ही 'सत्य' के माध्यम-भेद से जन्मीं अलग-अलग छवियाँ हैं। ये छवियाँ आभासी सत्य हैं, जिनमें देश-काल-पात्र/अनुभवकर्ता आदि के भेद से परिवर्तन होता रहता है- जबकि उनमें निहित मूलभूत सत्य अपरिवर्त्ती या सनातन है। अलग-अलग विषयों में अन्तर्भूत एक ही सत्य क्या है? वह शायद यह है कि हमारा विश्व एक है, हम सब एक हैं तथा हम आपस में और विश्व के साथ परस्पर-सम्बद्धता के बल पर अस्तित्ववान् हैं। चाहे किसी विषय / परिस्थिति / समस्या से अपनी विचार यात्रा शुरू करें, तमाम ऊहापोहों के बाद अंत में इसी सत्य का बोध हमें होता है। यह बोध हमें अन्ततः व्यापक दृष्टि से सम्पन्न, अधिक मानवीय और अपने व विश्व के पारस्परिक अस्तित्व के प्रति आस्थावान व जागरूक बनाता है। अतएव, कहा जा सकता है कि शोध कार्य का परम प्रयोजन आत्मशोध या आत्म-परिष्कार होता है, जिसके लिए किसी भी विषय / शीर्षक को माध्यम बनाया जा सकता है अथवा किसी भी क्षेत्र से अपना प्रस्थान-बिंदु चुना जा सकता है। परंतु, माध्यम-रूप में हम उसी वस्तु / विषय का चयन करते हैं, जो हमारे निकट हो, थोड़ा बहुत परिचित या हमारे संस्कार / रुचि में हो और इसी कारण हमारी जिज्ञासा का कारण या आलम्बन बना हो। वैसे तो

अति-परिचित चीज़ों की हम उपेक्षा ही करते हैं,[4] उनके प्रति अनवधान (Inattentive) रहते हैं, उन पर हमारी गहरी दृष्टि प्रायः नहीं जाती। परंतु, यह भी सत्य है कि वे ही कभी-कभी हमें गहन जिज्ञासा में डाल देती हैं। जैसे पेड़ से सेब के गिरने की अति परिचित घटना ने न्यूटन को तथा नाखून के बढ़ने की सर्व सामान्य घटना ने आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी को गहरी सोच में डाल दिया।[5] एक के परिणामस्वरूप ब्रह्माण्ड-व्यापी आकर्षण-बल का जटिल गणित प्रत्यक्ष हुआ, तो दूसरे के परिणामस्वरूप मानव इतिहास/संस्कृति के मार्मिक विश्लेषण द्वारा अभूतपूर्व मानवतावादी निष्कर्ष निकल कर सामने आए।

'ज्ञान' अपना प्रयोजन आप होता है और वह प्रयोजन 'स्वान्तः सुख' से जुड़ता है। सामान्यतः उसे 'निष्प्रयोजन आनंद' कहते हैं। फिर भी कहना होगा कि निष्प्रयोजन या आनंद मात्र की समझी जाने वाली वस्तु भी अन्ततः लोकोन्मुखी होती है-लोकोपकार करके सार्थक होती है। इस संदर्भ में शोध-कार्य की सार्थकता तद्-विषयक ज्ञान-क्षितिज का विस्तार करने और अब तक अछूते रहे सत्य को उजागर करने में है। 'शोध' के द्वारा उपलब्ध सत्य (चाहे वह आभासित सत्य ही हो) का स्वभाव होता है कि वह 'एक' से 'अनेक' में फैले,[6] यानी आत्मविस्तार उसका मूलभूत लक्षण या विशेषता है। मनुष्य-मात्र 'आत्म' (Self) का विस्तार करने में सदा संलग्न रहा है- अपनी किसी तरह की अनुभूति या अपने द्वारा अनुभूत सत्य को लोगों तक फैलाना ही उसका गुणधर्म है। यदि हम मनन करने से मनुष्य हैं, तो 'अनुभूत' को व्यक्त करने से व्यक्ति। फिर, मनन व अभिव्यक्ति के अधिकारी तो सभी मानव प्राणी (Human being) हैं, सभी थोड़ा-बहुत यह करते भी हैं। पर, जिस ऊँचे अर्थ में मनन अभिव्यक्ति (शोध, रचनाशीलता, भाषण, शिक्षण आदि) की बात की जा रही है, उसमें अब तक लोकतन्त्र नहीं आ पाया है। अर्थात् लिंग, नस्ल, क्षेत्र, भाषा आदि से जुड़े स्तरीकरणों के कुपरिणामस्वरूप अधिकतर जनता 'मनुष्य' (इंसान) एवं व्यक्ति बनने की सुविधा से अब तक वंचित रही है, बल्कि वंचित करके रखी गयी है। यह सब से बड़ा सांस्कृतिक संकट है, जिसका सब से ज़्यादा खामियाज़ा स्त्री समुदाय को भुगतना पड़ा है। इस क्षेत्र में लोकतन्त्र की प्रतिष्ठा अहम मुद्दा है। स्वतंत्रता, समता और बन्धुता/भगिनीवाद (बहनापा) के मूल्यों की प्रतिष्ठा के बाद ही ऐतिहासिक विकास की असंगतियों और उसके संस्कारों से हम सब मुक्त होकर सच्चे अर्थों में और बराबर मात्रा में 'मनुष्य' (इंसान) और 'व्यक्ति' बन सकते हैं। तभी हम सब बराबर मात्रा व गुणवत्ता में शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं और इसके द्वारा शोध कार्य के सच्चे अधिकारी भी हो सकते हैं। शोध की पात्रता हेतु यह तो हुई प्रासंगिक बात। मूलभूत या सदास्थायी पात्रता तो यह है कि शोधार्थी को अपने चयनित विषय का वकील नहीं, बल्कि न्यायधीश होना चाहिए। किसी व्यक्ति में न्याय-बुद्धि तभी आ सकती है, जब वह लोभ, मोह और क्रोध से यथासंभव मुक्त हो। किसी विषय का न्यायपूर्ण निष्पादन (Execution) करने के लिए गहन अध्यवसाय के साथ एकनिष्ठ समर्पण तो ज़रूरी है ही ऊपर से निष्पादक का उक्त दोषों से मुक्त होना भी ज़रूरी है। जीवन की विविध वासनाओं की नील-छबीली डोरियों से खिंचे चले जा रहे

व्यक्ति में शोध कार्य की पात्रता क्रमशः न्यून होती जाती है। उसे तो उस गुण से अनवरत संवलित होना चाहिए, जिसे कुछ लोग 'बौद्धिक ब्रह्मचर्य' कहते हैं।

शोध कार्य के दौरान अपने लक्ष्यीभूत या अधीतव्य विषय से सम्बद्ध साधनों या बिखरी सामग्रियों का एकत्रीकरण, फिर उनका (आवश्यकतानुसार ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक या अन्यान्य तरह से) विश्लेषण किया जाता है। इन सबसे कार्य का परिणाम या निष्कर्ष प्राप्त होता है। निष्कर्ष में **'अनुक्त', 'उक्त'** और **'दुरुक्त'**[7] का प्रकथन-परीक्षण व परिष्कार निहित होता है (अनुक्त=जो कहा नहीं गया, यानी अब तक कहने से बाकी रह गया है; उक्त = जो कहा गया है; दुरुक्त = जो कहा तो गया, पर दोषपूर्ण/गलत कहा गया है)। इसी से ज्ञान का नवीनीकरण (Renewal) होता है। इससे सत्य पिष्टपेषित[8] न होकर नये रूप में प्रकट होता है। हर नया रूप मूल सत्य का एक-एक चेहरा होता है, परंतु युग व देश के अनुसार सत्य के नये-नये चेहरे उद्घाटित होते रहना मानवता व उसकी प्रज्ञा के उन्नयन के लिए ज़रूरी है। इस तरह स्पष्ट है कि नवीनता ही किसी शोध कार्य की असली पहचान है-मौलिकता ही उसकी वास्तविक गुणवत्ता है। नवीनता या मौलिकता का यह गुण विषय चयन से लेकर शोध-प्रविधि में भी होना चाहिए, पर सबसे बढ़कर होना चाहिए निष्कर्ष में। यानी, प्रस्थान बिंदु से बढ़कर परिणति में मौलिकता/नवीनता अपेक्षित होती है। पर, मौलिकता/नवीनता का अर्थ प्रचलित या पूर्वप्राप्त मतों से असहमति या विद्रोह भर नहीं है, बल्कि विद्रोह या असहमति का स्वरूप क्या है और वह सामाजिक प्रगति या इंसान की विजय यात्रा में, उसे पहले से बेहतर बनाने, सुखी करने में कितना योगदान कर सकती है-इसी बात में निहित होती है मौलिकता।[9] जिस प्रकार आधुनिकता का अर्थ किसी काल-खण्ड विशेष में अवस्थिति से बढ़कर, सोच और जीवन-प्रणाली के सेक्यूलर (इहलौकिक) दृष्टि से संयोग में निहित है, उसी प्रकार मौलिकता का असली अर्थ है-**लोकहितकारी नवीन चेतना।**

बात यदि **साहित्य** की की जाए, तो **शोध** के समानान्तर एक और शब्द प्रचलित है-**समीक्षा**। शोध और समीक्षा-इन दो शब्दों का अब तक जो प्रयोग-व्यवहार रहा है, वह दोनों को एकान्तिक रूप से भिन्न करार देता है। उसके अनुसार, शोध का मतलब है खोज-अज्ञात, अनुपलब्धता वस्तु, तथ्य या निष्कर्ष की उपलब्धिता और समीक्षा का तात्पर्य है। किसी ज्ञात या सुप्रसिद्ध वस्तु/कृति के बारे में व्यवस्थित/एकाग्र रूप में की गयी वैचारिक टिप्पणी। यानी, शोध से प्राप्त तथ्य या निष्कर्ष परम्परागत ज्ञान के लिए अभिनव व अपूर्व होते हैं, जबकि किसी वस्तु या कृति की समीक्षा समाज के सामने उसे देखने-समझने की एक नयी दृष्टि रखती है। इस तरह शोध अधिकाधिक वस्तुनिष्ठ होता है, जब कि समीक्षा अधिकाधिक व्यक्तिनिष्ठ/आत्मपरक। समीक्षा इसी कारण साहित्य के समीप जा बैठती है और साहित्य-लेखन की तरह समीक्षा की भी अनेक शैलियाँ हो जाती हैं।

स्पष्टता के लिए यह विभाजन तो ठीक है, पर इसी को अतिरंजित रूप देते चले जाएँ और इस परिभाषा के अनुसार शोधकार्य को अधिक-से-अधिक आविष्कारमूलक व वस्तुनिष्ठ

बनाने का आग्रह करते जाएँ, तो साहित्य जैसे क्षेत्र में शोध के विषयों का अकाल होने लगेगा अथवा जो कुछ शोध के नाम पर होगा, वह इतिवृत्तात्मक या तथ्य-संग्रह भर होगा। यदि बात हिन्दी-साहित्य की करें, तो उसके पाठ्यक्रम में शुद्ध साहित्य (कविता-कहानी-उपन्यास-नाटक-निबन्ध आदि) के साथ साहित्य का इतिहास, साहित्यशास्त्र (काव्यशास्त्र) और भाषाशास्त्र / व्याकरण भी उसके सहायक अंग के तौर पर सम्मिलित रहते हैं। इनमें से भाषाशास्त्र/व्याकरण या काव्यशास्त्र में और बहुत हद तक साहित्येतिहास में ऐसे काम हो सकते हैं, जो तथ्यपरक या वस्तुनिष्ठ हों, पर साहित्य में ऐसा शोधकार्य भला क्या होगा? वहाँ भी समकालीन साहित्य या जीवित कृतिकार पर शोधकार्य तो और भी अनुपयुक्त होगा। कारण, नये या इस ज्ञात विषय में अनुसंधान कैसा? तथ्यान्वेषण कैसा? यह भी समझा जाता है कि समकालीन विषय अपने स्वरूप में विकसनशील एवं अस्थिर होते हैं। जब शोधकार्य का आधार ही अस्थिर हो तो निष्कर्ष कितना स्थिर होगा? पर, यहाँ यह बात समझ लेने की है कि किसी अनुसंधान का उद्देश्य स्थिर या अन्तिम निष्कर्ष अथवा अन्तिम सत्य की प्राप्ति नहीं होता। अन्तिम सत्य जैसी कोई चीज़ यदि होती भी है, तो वह हमारे व्यावहारिक जीवन की वस्तु नहीं है। हमारा सत्य उतना ही होता है, जितने तक हमारी पहुँच हो या जो हमारे लिए किसी तरह प्रयोजनीय हो। ज्ञान तो परिवर्तनशील है ही, सत्य के स्वरूप में भी उसके सापेक्ष परिवर्तन होता रहता है। बात विज्ञान की भी करें, तो भी यही सच है। फिर, साहित्य तो साहित्य है। इसका सत्य तो और अधिक सापेक्ष है-हज़ार आँखों के लिए हज़ार रूप में प्रतीयमान। इसलिए अनुसंधान से प्राप्त हर निष्कर्ष अभी चाहे कितना भी अन्तिम या स्थिर प्रतीत होता हो, पर वह आगे के शोधकार्य का साधन या उससे प्राप्त होने वाले निष्कर्ष की पिछली सीढ़ी भर बनता है। साहित्यिक शोध में यदि किसी हद तक तथ्यान्वेषण संभव या ज़रूरी भी हो, तो वह साध्य नहीं, साधन ही होता है। **शुद्ध साहित्य में शोधकार्य अनुसंधान-परक नहीं, समीक्षामूलक ही हो सकता है,** भले किसी हद तक तथ्यान्वेषण को भी वहाँ साधन रूप में स्वीकारा गया हो। तब, शोधकार्य की मौलिकता या नवीनता का यहाँ मतलब किसी विषय को समझने हेतु नवीन दृष्टि के संधान से हो जाता है। उसके फलस्वरूप प्रस्तुत विषय पर नयी रोशनी पड़ती है या उसे देखने-समझने की एक नयी पद्धति का उद्घाटन होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी या जायसी विषयक अपने प्रबन्धों के ज़रिये उन में निहित कई ऐसी विशिष्टताओं को लोकगोचर किया, जिन पर पहले किसी की निगाह नहीं गयी थी। उससे न केवल तुलसी या जायसी विषयक हमारा बोध विकसित हुआ, बल्कि साहित्य को परखने के लिए कुछ नयी कसौटियाँ भी हमारे हाथ लगीं। फिर, प्रो. विजयदेव नारायण साही ने जायसी को समझने की सर्वथा नयी दृष्टि दी ('जायसी' प्रबन्ध द्वारा) । आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर जैसे व्यक्ति और रचनाकार की निर्मिति के रहस्य का संधान ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय धरातल पर करते हुए हिंदी कवियों की मूर्धन्य पंक्ति में उन्हें प्रतिष्ठित किया। आज कबीर और तुलसी विषयक वैचारिकी में **दलित** और **स्त्री दृष्टि** अपने दमदार हस्तक्षेप कर कई अभूतपूर्व निष्कर्ष सामने ला

रही हैं। ये सभी कार्य मौलिकता या नवीनता में किसी से क्या कम हैं कि इन्हें शोधकार्य न माना जाए? ऊपर जिस शोध-प्रक्रिया का संकेत है, जिसके द्वारा अनुक्त के कथन, उक्त के परीक्षण और दुरुक्त के परिष्कार की बात कही गयी है, वह तमाम अनुशासनों (Disciplines) के अन्तर्गत होने वाले शोधकार्यों को समाहित करने का प्रयास है।[10]

हिंदी में अब तक हुए शोधकार्यों (चाहे वे सांस्थानिक या उपाधि से जुड़े हों अथवा व्यक्तिगत या उपाधि-निरपेक्ष हों) पर नज़र डालते हैं तो सामान्यतः दो प्रकार के प्रबन्ध दिखलाई पड़ते हैं-शोधमूलक (विशुद्ध शोध के समीप), समीक्षामूलक। इनका विभाजन प्रधानता के आधार पर है, अन्यथा एक की विशेषता दूसरे में समाविष्ट हो जाना बिल्कुल स्वाभाविक है। हिंदी-शोध के उदाहरणस्वरूप 'रामकथा: उत्पत्ति और विकास', 'हिंदी-सर्वनामों का विकास', 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', 'हिंदी-साहित्य में अलंकार', 'हिंदी-उपन्यासों में नारी-चित्रण', 'आदिकाल', 'मध्यकालीन हिंदी कवियित्रियाँ', 'देवनागरी लिपि का ऐतिहासिक तथा भाषा वैज्ञानिक अध्ययन', 'हिंदी साहित्य में काव्य के स्वरूप का विकास', 'काव्य दोषों का उद्‌भव और विकास', 'खड़ी बोली की व्याकरण-रचना के क्रमिक विकास का अध्ययन' जैसे हज़ारों नाम हैं, जिन्हें हम सुविधानुसार शोधमूलक या समीक्षामूलक घोषित कर सकते हैं। परंतु, विशुद्ध साहित्य पर शोधकार्य वही उत्कृष्ट होगा, जो अनुसंधान व समीक्षा की सम्मिलन-भूमि पर हुआ हो। उसी में उर्वर नवीनता भी रहेगी और लोकहितकारी चेतना भी।[11]

शोध और शिक्षण – अर्न्तसंबंध

'शोध' और 'शिक्षण' का गहरा और पारस्परिक संबंध है। शोध से शिक्षण पैदा होता है और शिक्षण से शोध। 'शिक्षण' सिखाने का भी नाम है और सीखने का भी। सीखना (या समझना) और सिखलाना (या समझाना) दो अलग-अलग क्रियाएँ नहीं हैं-चेतना की एक ही घटना के दो बाह्य रूप भर हैं। इसलिए, जो लोग यह कहते हैं कि मैं अमुक चीज समझ तो रहा/रही हूँ, पर समझा नहीं पा रहा/रही हूँ; वे ग़लत कहते हैं। यदि वे किसी तथ्य को समझाने में असमर्थ सिद्ध हो रहे हैं, तो असली बात यह है कि वे वह तथ्य समझ ही नहीं पाये हैं। मतलब, उनकी समझ में ही कोई गाँठ रह गयी है। पारदर्शी समझ के अभाव में ही वे दूसरों को समझाते (पढ़ाते) समय क्लिष्ट अभिव्यक्तियों से ग्रस्त होते दिखते हैं। अन्यथा, मनोविज्ञान का सत्य यही है कि जिसकी की समझ जितनी ही गहरी होती जाएगी, उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही सहज होती जाएगी (पानी जितनी ही गहराई से निकलता है, उतना ही निर्मल होता है)। शब्दों के आडम्बर अक्सर अज्ञान या अल्पज्ञान को छुपाने के साधन बनते दिखे हैं। शोधक की दृष्टि से अनुप्राणित अध्यापन ही सच्चा अध्यापन है। अन्यथा, वह विद्यार्थियों को पोषित (पीसे हुए को ही फिर से पीस कर तैयार) सामग्री परोसते जाना होगा। वैसी शिक्षा जड़ता की शिकार होती है। वह समाज की प्रगति या उसकी चेतना के उन्नयन में कोई योगदान तो नहीं करती, बल्कि उसे नकारात्मकता या बासीपन की सड़ाँध से भरती भी जाती है। (स्कूल से विश्वविद्यालय तक कई ऐसे शिक्षक अकसर मिल जाते हैं, जो अपने विद्यार्थी जीवन में तैयार

किये गये किसी नोट्स अथवा बाबा आदम-युगीन किसी पोथे से विद्यार्थियों को लिखवा-लिखवा कर अपने अध्यापकीय दायित्व पूरे करने के भ्रम में जीते हैं।) इसी संदर्भ में बात आती है सिलेबस के निरंतर नवीनीकरण या अद्यतन (अप-टु-डेट) करने की। विद्या-प्राप्ति के चार चरण हैं-आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहार।[12] इनमें 'आगम' (उपलब्ध ज्ञान का संचय) और 'स्वाध्याय' (निरंतर स्वयं अध्ययन-अध्यवसाय) शोध एवं सीखने की क्रिया से जुड़ते हैं, 'प्रवचन' सिखलाने से जुड़ता है और 'व्यवहार' (एप्लिकेशन) तो शोध, सीखने व सिखलाने-तीनों की अंतिम परिणति है।

उपर्युक्त बातों के आलोक में, यदि अपने देश की शिक्षा संस्थाओं में हो रहे शोध कार्यों पर विचार करते हैं तो हमें बेहद निराश होना पड़ता है, क्योंकि यह क्षेत्र अंधकार-उन्मुख किसी ढलान पर प्रतीत होता है। वैसे सुखद अपवादों की भी कमी नहीं है, परंतु आम हाल यही है। यह हालत कमोबेश सारे विषयों में है, पर यहाँ भी प्रधानता मानविकी और समाज विज्ञान जैसे अनुशासनों की है। शोध कार्य आज ज्ञान क्षितिज के विस्तार के लिए न होकर, नौकरी पाने या प्रोन्नति सुनिश्चित करने के लिए उपाधि (डिग्री) बनाने की हड़बड़ी में बदल चुका है। सारस्वत साधन का धैर्यशाली शास्त्रीय संगीत आज ऐसी ही उपाधि-रूपी व्याधि से ग्रस्त होकर, अधीर पॉप म्यूज़िक में बदल चुका है। किसी उपाधि-मूलक शोधकार्य के चार स्तम्भ होते हैं-**शोधकर्ता, शोध-निदेशक, शोध-परिषद् और शोध-परीक्षक** आज इनके चयन / गठन में घोर अनियमितता व अपात्रता की भरमार है। आज चारों बड़े पैमाने पर अपने ज्ञानपरक उद्देश्य से विचलित, फलतः अपने स्वरूप में भ्रष्ट हो रहे हैं। इनके पतन की दिशाओं की चर्चा करना, उनके विविध चित्र दिखलाना या उनके कारणों की थाह लेना एक स्वतंत्र आलेख का ही नहीं, एक अलग शोध कार्य का भी विषय होगा। इस स्थिति में जो कुछ आशा बची हुई है, वह संस्थानों से अलग रहकर किये जा रहे स्वतंत्र या उपाधि-निरपेक्ष शोध कार्यों पर ही उन्हीं से कुछ नया व लोकहितकारी सत्य निकलकर आने की उम्मीद है। शोध तो ऊँची चीज़ हुई। हमारे देश के कई राज्यों के विश्वविद्यालयों / महाविद्यालयों में शिक्षा का आधारभूत ढाँचा भी कायम नहीं रह गया है और जो कुछ है, वह काफी स्तरहीन है। केंद्रीय विश्वविद्यालयों का भी हाल बहुत उत्साहजनक नहीं दिखलाई पड़ता। ऐसी परिस्थिति में हमारे शिक्षालय ज्ञान के सृजन में कितनी भूमिका निभा पाते होंगे-सहज अनुमान लगाया जा सकता है। यही कारण है कि संसार के 180 शिक्षण-संस्थानों की सूची में भारत का कोई संस्थान फ़िलहाल नहीं दिखता।[13] यह है विश्वगुरु के दम्भी हमारे देश की असलियत। वैसे तो इस स्थिति के ज़िम्मेदार कारणों की लंबी सूची हो सकती है। उनमें से शिक्षालयों में राजनीति का अनुचित हस्तक्षेप, शिक्षकों व पदाधिकारियों की पक्षपात पूर्ण / घूसखोर नियुक्ति-प्रक्रिया, शैक्षिक परिसरों का अन्यान्य (राजनैतिक-प्रशासनिक) कार्यों हेतु दुरुपयोग तथा सिलेबस-कक्षा-परीक्षा व मूल्यांकन में बढ़ती अनियमितता और उनका गिरता स्तर शिक्षा के निरंतर पतन के कुछ प्रभावी कारण हैं। इसके साथ, हर अध्ययन या सफलता की कसौटी धन या सुख-साधनों की उपलब्धि को मान लेने का सामाजिक महारोग भी कम बड़ा

कारण नहीं है। एक आकलन-अनुमान से हिंदी में 1934 ई. (पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल) से लेकर अब तक बीस हज़ार से अधिक प्रबंधों को शोधोपाधि मिल चुकी है[14], पर यह सवाल मुँह बाये खड़ा है कि क्या ये सबके सब शोध कहलाने के अधिकारी हैं? क्या इन सबसे तद्-तद् विषय को नया उत्कर्ष मिला है, उस पर कुछ नवीन प्रकाश पड़ा है? इनमें से आधे भी इस कसौटी पर खरे उतर जाएँ, तो भी एक सन्तोष का विषय होगा। जो घिनौनी स्थिति है, उसे देखते यह भी समझा जा सकता है कि उनमें से कई तथाकथित प्रबन्ध कट-पेस्ट के सिवा कुछ भी नहीं हैं।

साहित्य में शिक्षण और शोध चुनौतियाँ

साहित्य के शिक्षण व शोध की अवस्था के और भी असंतोषजनक होने के कुछ कारण साहित्य के स्वरूप से भी जुड़े हैं। शुद्ध उपयोगितावादी तराजू पर 'साहित्य' को तौलने की प्रवृत्ति में पड़ा पाठक या अनुसंधित्सु सहसा संदेहग्रस्त हो उठता है। वह सोचता है कि साहित्य या भाषा का अध्ययन किसलिए? यदि उससे कोई नौकरी जुड़ी हो, तब तो ठीक है, परंतु उसके बिना पढ़ना उसे प्रयोजनहीन ही लगने लगता है। उसे सूक्ष्म प्रयोजन (ज्ञान-सुख, सौन्दर्य-बोध, मानवीय संवेदना का विस्तार आदि सहसा इसलिए नहीं दिख पाते, क्योंकि दैहिक ज़रूरतों की पूर्ति का काई मुकम्मल आश्वासन साहित्य का अध्ययन उसे नहीं दे पाता। बात भी ठीक है। जब पेट में चूहे कूद रहे हों, तो कोई ज्ञान जहाँ निरर्थक लग सकता है, वहाँ साहित्य जैसी चीज़ (जो प्रयोजनातीत, यानी स्थूल प्रयोजनों से ऊपर की वस्तु है, वह) कैसे समझ में आएगी? 'भूखा-पेट' व्यक्ति खाली दिमाग का होता है, वह कुछ भी नहीं समझ सकता, तो साहित्य जैसी सुकुमार-संवेदनशील वस्तु खाक समझ पाएगा? उसे तो चाँद में भी रोटी दिखाई देती है, तो खाक आस्वादन कर पाएगा साहित्य का? जब यही नहीं होगा तब साहित्य के माध्यम से बेहतर जीवन रचना का अगला चरण कहाँ से पूरा हो सकेगा? इसी से साहित्य या किसी कला या विद्या के अध्ययन-अध्यापन या आस्वादन का माहौल बनाना तब तक पूर्णतः सम्भव नहीं होगा, जब तक हमारा पेट भूखा है, हमारी देह भूखी है (क्योंकि इनके भूखे रहने से मन भूखा रहता है, जो हमारी प्रधान ग्राहणेंद्रिय है। यानी, स्थूल प्रयोजनों की संतृप्ति के बिना सूक्ष्मतर प्रयोजनों में जाना कतई सम्भव नहीं।)[15] इसलिए, जो देश / समाज भूख, गरीबी या भय में ही उलझा हो, वहाँ ज्ञान सृजन या शिक्षण व शोध की स्थिति कतई बेहतर नहीं होगी। ध्यातव्य है कि यहाँ बात 'ज़रूरत' की पूर्ति की हो रही है, 'लालच' की पूर्ति की नहीं।

स्पष्ट होना चाहिए कि शिक्षा की सर्वांगीण सुदृढ़ स्थिति ही शोध की उन्नति का सबसे प्राथमिक आधार है, इसलिए देश में स्तरीय शोधकार्य का माहौल बनाना है, तो हर स्तर की शिक्षा के आधारभूत ढाँचे को सशक्त, भ्रष्टाचार मुक्त और लोकतान्त्रिक आदर्शों के अनुरूप उसे हर स्तर / समूह तक व्यापक बनाना होगा। इसे सम्भव और पूरी तरह कारगर बनाने के लिए, सबसे पहले बिना भेदभाव किए, हर किसी के भौतिक जीवन की समस्याओं का निराकरण और हर किसी के लिए इंसानों के अनुरूप जीने की सुविधा सुनिश्चित करानी होगी। कारण, भौतिक स्तर पर मुक्ति ही वैचारिक या आत्मिक मुक्ति की पूर्वशर्त है।

संदर्भ

1. '*संस्कृत-हिन्दी-कोश*' (वामन शिवराम आप्टे). प्रकाशक-मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, संस्करण-1997, पृष्ठ-43.
2. 'ईशावास्योपनिषद्' के शब्दों में ''*हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्*''-अर्थात् सत्य का मुख सुनहले पात्र से ढका हुआ है.
3. ''*आकृष्टि-शक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या...*'' (-'सिद्धान्तशिरोमणि'/भास्कराचार्य). यानी भूमि में आकर्षण-शक्ति है, जिससे आकाश में स्थित भारवान पिण्डों को वह अपनी ओर खींच लेती है.
4. अतिपरिचयात् अवज्ञा=अति-परिचित चीज़ों को हम अक्सर महत्त्व नहीं देते, यानी 'घर की मुर्गी दाल बराबर'.
5. *'नाखून क्यों बढ़ते हैं?'.* शीर्षक हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का निबन्ध.
   परशुराम चतुर्वेदी ('हिंदी में उपाधि-निरपेक्ष शोधकार्य', 'हिंदी-अनुशीलन-शोध विशेषांक/जुलाई-दिसम्बर, 1962)
6. 'एकोहम् बहुस्यां प्रजायेय..' (-तैत्तिरीयोपनिषद्, 2-6) यानी. 'मैं एक हूँ, अनेक बनकर प्रकट होऊँ'-ब्रह्म की इस इच्छा का परिणाम है जगत्.
7. ''उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते. तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञाः मनीषिणः।।''-'वार्तिक' (-कात्यायन).
8. पिष्टपेषण (पिसे हुए को फिर से पीसना, यानी बासी ज्ञान ही फिर से परोसना) का भूतकालिक विशेषण है 'पिष्टपेषण'.
9. ''विद्रोह होना ही बड़ी बात नहीं है, बल्कि विद्रोह का स्वरूप क्या है और सामाजिक अग्रगति में वह कितना सहायक है-यही बड़ी बात है।''
   -'साहित्य में मौलिकता का प्रश्न' आलेख (आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी)
10. ''शोध कार्य का तात्पर्य उन अनुसंधान परक प्रयत्नों से है जिनके फलस्वरूप या तो किसी नवीन तथ्य का पता चलता है अथवा किसी ज्ञात विषय को ही कोई एक ऐसा अभिनव रूप दे दिया गया मिलता है, जिससे उस पर और अधिक प्रकाश पड़ जाता है।''
11. ''विशुद्ध शोध में साहित्य और कला के व्यावहारिक विवेचन की कमी तथा उनके तात्विक पक्षों की खोज का जो उल्लेख किया गया है और उस ऊँची भूमिका पर न पहुँच सकने के कारण आज के शोध कार्य में वस्तु संग्रह और वस्तु संचय के जिन तथ्यों की प्रधानता होती जा रही है, उससे मुक्ति पाने और शोध की भूमिका को अधिक उर्वर बनाने के लिए ऐसे सम्मिश्रण की आवश्यकता है, जिस में शोधात्मक और समीक्षात्मक तथ्य समाहित होकर एक-दूसरे को पुष्ट और शक्तिमान बनाएँ।''
    - वाजपेयी, नन्ददुलारे. 1962. 'शोध और समीक्षा' 'हिंदी-अनुशीलन-शोध विशेषांक/जुलाई-दिसम्बर.
12. ''*चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति-आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति*''-'महाभाष्यम्' (पतंजलि)
13. 'टाइम्स-हायर-क्यूएस' की 2010 की रैंकिंग के मुताबिक दुनिया के टॉप शैक्षिक संस्थानों की जो सूची (अध्यापन, अनुसंधान, रोजगार की क्षमता और वैश्विक आकर्षण जैसे मापकों के आधार पर) तैयार की गयी है, उनमें 186 वें स्थान तक भारत का कोई संस्थान नहीं है। भारतीय संस्थानों में प्रथम स्थान 'आई.आई. टी.(मुम्बई)' का है, जो उक्त सूची में 187 वें स्थान पर है। भारत के विश्वविद्यालयों में प्रथम स्थान पर 'दिल्ली वि.वि.' है, जो उक्त सूची में 371 वें स्थान पर है ।

स्रोत–2010–Q S World University Ranking@
वेबसाइट– WWW.topuniversities.com

14. 'शोध संदर्भ' (–संपादक, डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल + डॉ. मीना अग्रवाल/ प्र. हिंदी साहित्य निकेतन, 16, साहित्य विहार, बिजनौर, उत्तर प्रदेश) के 5 खंडों में हिंदी के सांस्थानिक शोध कार्यों की विस्तृत सूची प्रकाशित हुई है, जिसके अनुसार 2009 तक स्वीकृत शोध प्रबंधों की संख्या 19,956 है.
15. *''बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते पिपासितैर्काव्यरसो न पीयते।*
न छन्दसा केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फलाः कलाः।।'
अर्थात्, भूखा व्यक्ति व्याकरण नहीं खा सकता, प्यासा व्यक्ति काव्यरस नहीं पी सकता। छन्द से कोई अपने कुल का पालन नहीं कर सकता। सारी कलाएँ निष्फल हैं, जब तक पेट न भरा हो। इसलिए, सब कुछ छोड़कर पहले धन (हिरण्य= सोना) का अर्जन करो.